राष्ट्रीय पाठ्यक्रम दस्तावेज : आलोचना का एक और पक्ष

❑ उपेन्द्र शंकर

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद द्वारा इस बहस के लिए जारी 'राष्ट्रीय पाठ्यक्रम' दस्तावेज पर 'शिक्षा-विमर्श' के पिछले अंकों में आलोचनात्मक लेख एवं टिप्पणियां प्रकाशित हुई हैं । इन प्रतिक्रियाओं से लगता है कि यह दस्तावेज पूर्वग्रहग्रस्त, एकांगी और असंगत है । हम चाहेंगे कि इस दस्तावेज को लेकर शिक्षा-परिदृश्य में आगामी कार्यवाही की रुपरेखा बने । फिलहाल राष्ट्रीय पाठ्यचर्या को लेकर बहस 'शिक्षा-विमर्श' में जारी रहेगी । इस बार दस्तावेज में वर्णित तीसरी कक्षा से अंग्रेजी शिक्षा और माध्यमिक स्तर पर व्यावसायिक शिक्षा के प्रस्तावों पर टिप्पणी दी जा रही है ।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद द्वारा बहस के लिए जारी, विद्यालय शिक्षा के लिए 'राष्ट्रीय पाठ्यक्रम' के दस्तावेज के पृष्ठ संख्या 97 पर, इस को परिभाषित करते हुए लिखा है कि ''किसी पाठ्यक्रम की रूपरेखा किसी देश की, शिक्षा के क्षेत्र में अपनायी जाने वाली नीतियों को इंगित करती है, और एक निश्चित समयावधि में शिक्षा व्यवस्था में किए जाने वाले परिवर्तनों की दिशा दर्शाती है।'' इसलिए पाठ्यक्रम पर अपने विचार व्यक्त करते समय हमारे सामने यह सवाल स्वाभाविक है कि-

1. हम नीति का विश्लेषण कैसे करें ?

2. दिशा परिवर्तन को किन संदर्भों में जाना जाये ?

यह प्रश्न तीन कारणों से महत्वपूर्ण है -

1. लोगों की धारणा यह है कि हमारे यहां नीतियां तो ठीक हैं, लेकिन गड़बड़ी इन नीतियों के क्रियान्वयन के स्तर पर है । यह गलती हमसे न हो, इसके लिये, किसी भी नीति का विश्लेषण करते समय हमें उसके परिप्रेक्ष्य (वह स्थितियां जिनके कारण यह नीति तैयार करनी पड़ी) कार्यक्रम की रूपरेखा और उसके क्रियान्वयन पर ध्यान देना होगा । इनसे हम यह आसानी से जान सकते हैं कि नीतिगत बदलावों का कारण क्या है ? उनका प्रयोजन क्या है ?

2. दूसरा कारण है कि हमारे देश में पाठ्यक्रम एक शासकीय नीति। (हल्की भाषा में कहें तो आदेश) से भिन्न नहीं होता । वह शिक्षा संबंधी शोध केन्द्रों में बनाया जाता है और राजधानी से लेकर दूर-दराज के गांवों के स्कूलों में सीधे-सीधे लागू कर दिया जाता है ।

3. जब भी सुधारों की प्रक्रिया शुरू होती है तो कुछ सुधार तो शासक वर्ग अपने लाभ के लिए शुरू करता है और कुछ लोगों की मागों के प्रत्युत्तर में शुरू करता है । इन दोनों सुधारों में विभेद करना बहुत ही महत्वपूर्ण है क्योंकि दोनों विभिन्न प्रकार के कार्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसके कारण उनके परिणाम भी भिन्न-भिन्न होते हैं । इससे भी महत्वपूर्ण यह है कि अधिकांशतया आम लोगों की मांगें भी उनकी उपनिवेशीकृत मनोदशा से उपजती हैं जैसे कि हमारे यहां अंग्रेजी और व्यावसायिक शिक्षा की मांगे ।

अपने देश में अभी तक हुये पाठ्यक्रम में परिवर्तनों पर जब हम विचार करते हैं तो तीन महत्वपूर्ण परिणाम निकलते हैं ।

(क) 50 वर्षों में, स्कूली शिक्षा में परिवर्तन देश की आर्थिक नीतियों में आये महत्वपूर्ण परिवर्तन के परिणाम थे । 1964-66 में कोठारी आयोग की पूरी रपट हरितक्रांति से उपजी निपुणताओं और ज्ञान के मुद्दे के इर्द-गिर्द थी । इसी प्रकार 1985-86 में लागू उदार आर्थिक नीतियों के आधार पर 1986 की नई शिक्षा नीति खड़ी थी ।

(ख) अभी तक के पाठ्यक्रम व्यक्तिवाद और प्रतियोगिता के आधारभूत मूल्यों पर गठित किये गये । यह शिक्षा के व्यक्तिगत लक्ष्यों पर बहुत अधिक बल देते थे और सामाजिक लक्ष्यों को गौण कर उनकी अवेहलना होती रही।

(ग) पाठ्यक्रम बदल जाने की प्रक्रिया में पाठ्य सामग्री ऊंची कक्षा से नीची कक्षा में स्थांनान्तरित कर दी गयी । तर्क यह दिया गया कि ज्ञान की मात्रा बढ़ गई है (जैसे ज्ञान एक राशि हो)। इसका जबरदस्त प्रभाव यह हुआ कि नयी पाठ्यसामग्री कस्बों और गांवों के अध्यापकों और बच्चों के लिए बहुत कठिन साबित हुई। (विशेषकर गणित विज्ञान और अंग्रेजी) इस प्रकार शहर के सम्पन्न और गांवों-कस्बों के गरीब स्कूलों के बीच की दूरी और बढ़ गयी।

आगे बढ़ने से पहले हम यह जान लें कि हमारी शिक्षा व्यवस्था की किस दिशा के अन्तर्गत नया पाठ्यक्रम लागू किया जायेगा। इसके लिए हमें यह देखना पड़ेगा कि औपचारिक शिक्षा

प्रणाली (स्कूली) का ढांचा क्या है जिसमें कि नया पाठ्यक्र लागू होगा । इसके लिए यदि हम 1998 की स्थिति की जांच करें तो पाते हैं -

	स्कूलों(%) की संख्या	विद्यार्थियों(%) की संख्या हजारों में	अध्यापकों (%) की संख्या
पूर्व प्राथमिक एवं प्राथमिक	652551 (69)	111616 (63)	1871542 (41)
माध्यमिक	185506 (19)	39487 (22)	1211803 (26)
उ. माध्यमिक	102721 (11)	17947 (10)	1521186 (33)
उच्चतर माध्यमिक		9292(5)	
व्यव. तकनीकी. संस्थायें	6561 (1%)	-	-
कुल योग	947339 (100)	178344	

मेनपावर प्रोफाईल-ईयर बुक 1999 जनसाधन संस्थान - भारत पृष्ठ संख्या 72,82,76.

स्कूलों और विद्यार्थियों की यह स्थिति पिरामिडनुमा आकृति बनाती है । जिसके आधार पर प्राथमिक स्कूल और चोटी पर उच्च माध्यमिक स्कूलों से संबंधित गणनायें हैं - जो कि शिक्षा के ढांचे में होने वाले संकुचन को भली भांति दर्शाता है । यहां पर हमको यह भी ध्यान में रखना है कि विद्यार्थियों की संख्या नामांकन की है - न कि स्कूल जाने या परीक्षाओं में बैठने वालों की । असली स्थिति इससे कम हो सकती है ।

विद्यार्थी - अध्यापक अनुपात, शिक्षा की लागत का अन्दाजा लगाने का एक ठीक सा संकेतक माना जाता है । इस संकेतक को कसौटी पर कसने पर हम पाते हैं कि प्राथमिक स्तर यह अनुपात 60:1, माध्यमिक स्तर पर 33:1 और उच्च-उच्चतर माध्यमिक स्तर पर 12:1 है । इसका मतलब है कि जैसे-जैसे हम पिरामिड के ऊपर चढ़ते हैं, वैसे-वैसे बहुत कम विद्यार्थियों को, बहुत मंहगे स्तर पर शिक्षा प्रदान कर रहे हैं । शिक्षा क्षेत्र में, पिरामिडनुमा इस ढांचे के परिणामों से हम भली भांति परिचित हैं । वे हैं -

1. संख्यात्मक विस्तार नहीं हो पाता ।
2. असमानता बढ़ती है ।
3. गुणवत्ता (पूरी प्रणाली के स्तर पर) निम्न स्तर पर रहती है ।

माना, शिक्षा का यह ढांचा संख्यात्मक विस्तार, समानता और गुणवत्ता, शिक्षा के तीनों लक्ष्यों को, ऋणात्मक रूप में प्रभावित करता है । पाठ्यक्रम का इस ढांचे पर किस प्रकार का प्रभाव पड़ता है ? यह ढांचे को किस प्रकार प्रभावित करता है ? और हमारा यही दृष्टिकोण पाठ्यक्रम की प्रासंगिकता को जांचने का आधार होगा।

हम कह सकते हैं कि नये पाठ्यक्रम की नीतियां और दिशा भारतीय शिक्षा के दुराग्रह त्रिकोण - संख्यात्मक विस्तार की स्थिति, असमानता और निम्न गुणवत्ता - के आधार को कमजोर करने का प्रयास करता है या यह इसको और मजबूत बनाता है ? इससे हमें यह जानने में भी सहायता मिलेगी कि इस नयी नीति के सामाजिक परिणाम क्या हो सकते हैं और वे समाज के बड़े हिस्से के लिये लाभप्रद होंगे भी कि नहीं । क्योंकि शिक्षा का पाठ्यक्रम पढ़ने वालों की न सिर्फ जानकारी बढ़ाता है बल्कि उसके दृष्टिकोण को भी प्रभावित करता है । हमारे नये पाठ्यक्रम का भी कोई निश्चित सामाजिक उद्देश्य होगा । वह क्या है ?

यहां पर मैं, पाठ्यक्रम की दो महत्वपूर्ण सिफारिशों पर ही गौर करूंगा । पहली है-तीसरी कक्षा से अंग्रेजी एक विषय के रूप में शुरू करना और दूसरी है- सीनियर सैकेण्डरी के स्तर पर पाठ्यक्रम का विभेदीकरण करते हुये (अकादमिक और व्यावसायिक) उसको व्यवसायोन्मुखी बनाया जाना ।

प्राथमिक और माध्यमिक स्तर के लिये पाठ्यक्रम की महत्वपूर्ण सिफारिश तीसरी कक्षा से अंग्रेजी को एक विषय के रूप में शुरू करने की है । इसके पक्ष में पृष्ठ 37 और 38 पर जोरदार भाषा में कमजोर तर्क दिये गये हैं । जैसे ''परिवर्तित सामाजिक आर्थिक परिदृश्य और व्यक्तिगत और राष्ट्रीय आवश्यकतायें जो कि संचार क्रांति और भूमण्डलीकरण के कारण उत्पन्न हो गयी हैं, को देखते हुए इस स्तर (तीसरी कक्षा) पर अंग्रेजी का शुरू करना आवश्यक हो जाता है ।'' इसी प्रकार पृष्ठ 38 पर इंगित है । ''संभवतया अब एक विश्वभाषा।'' इतना ही नहीं पृष्ठ 40 पर साफतौर पर अंग्रेजी की महत्ता को दर्शाते हुए लिखा है ''इंगलिश हेज इनक्रीजिंगली बीन रिकोगनाइजड एज ए टूल फॉर एक्सेस, सक्सेस, प्रापरिटी, प्रेस्टीज एन्ड अपग्रेड मोबाइलिटी।'' इसी प्रकार सैकेण्डरी स्तर पर अंग्रेजी के बारे में बखान है, इंगलिश द वॉकेशनल लेंगवेज ऑफ टू डे एन्ड टूमारो, द लेंगवेज ऑफ इन्टरनेट एंड वन इंपोरटेंट रिपोसीटरी ऑफ वर्ल्ड विजडम हेज इटस ऑन क्लेम।''

परन्तु क्या अंग्रेजी को तीसरी कक्षा से शुरू करना, पाठ्यक्रम को परिभाषित करने के इस दृष्टिकोण से ही संबंध रखता है कि क्या पढ़ाया जाय ? यदि हम ऐसा समझते हैं तो समस्या को बहुत सरल ढंग से एकांगी रूप में पेश करते हैं । प्रच्छन्न रूप से पाठ्यक्रम की समस्या का संबंध इस बात से भी है कि पाठ्यक्रम का निर्माण करते समय, उसे लागू करते समय हम अपने समाज को किस रूप में

देखते हैं ? किस तरह के समाज की कल्पना करते हैं ? अंग्रेजी के पक्ष में पाठ्यक्रम दस्तावेज में दिये गये विभिन्न तर्क (जैसा कि ऊपर दिये गये तर्कों से साफ है) पाठ्यक्रम बनाने वालों के इस दृष्टिकोण के बारे में साफ-साफ दर्शाते हैं कि वे हमारे समाज और अंग्रेजी भाषा के साथ उसके संबंधों को किस प्रकार देखते हैं, और उन्हें क्या दिशा देना चाहते हैं ?

आजादी के बाद शिक्षा क्षेत्र में संस्थायी सुविधायें भले ही फैली हों, पर शिक्षा व्यवस्था में संकीर्णता लगातार बनी रही । हमारे देश में निरक्षरता के आंकडे इस तथ्य को साफ दिखाते हैं । 1991 की सारणियों के अनुसार 3289 लाख लोग निरक्षर थे । नीचे दी गई सारणी इस स्थिति को और भी साफ तौर से दर्शाती है ।

प्रतिशत में स्कूल जाने के वर्षों के लिहाज से जनसंख्या का शैक्षिक वितरण

वर्ष	3 वर्ष से कम	3 से 6 वर्ष	7-11 वर्ष	12-14 वर्ष	15+	कुल
1971	70.5	20.2	6.0	2.7	0.6	100
1981	63.6	22.6	8.3	4.3	1.2	100
1991	56.7	23.7	11.0	6.8	1.8	100

मेनपावर प्रोफाईल-ईयर बुक 1999 जनसाधन संस्थान - भारत पृष्ठ संख्या 48.

यह सारणी साफ दिखाती है कि शिक्षा की पहुंच कहां तक कितनी सीमित है । 1991 में हमारे यहां रोजगार में लगे बच्चों की कुल संख्या 1,12,85,000 थी, जिसमें कि 75% बच्चे निरक्षर थे और 11% बच्चे बिना किसी शिक्षा स्तर के साक्षर थे । साथ ही, प्राथमिक स्तर पर बहिष्करण (जिसे शासकीय भाषा में ड्राप आउट कहा जाता है) के आंकडे यह तथ्य और स्पष्ट कर देते हैं। 1995-96 में कक्षा 1 से 5 तक स्कूल छोड़ने वाले छात्रों की दर 39.57 थी और लगभग 58% बच्चे कक्षा 8 से पूर्व स्कूल छोड़ गये। इनमें लड़कियों और अनुसूचित जाति/जनजाति की स्थिति ज्यादा खराब है । यह तथ्य दर्शाते हैं कि पहली कक्षा से ही हमारे यहां शिक्षा की सामाजिक जकड़न शुरू हो जाती है ।

जब हम ड्राप आऊटस के कारणों की खोज करते हैं तो पाते हैं

1. अभिभावकों की निर्धनता और शिक्षा का बढ़ता व्यय
2. बच्चों का उत्पादन और रोजगार संबंधी कार्यों में माता-पिता की सहायता करना ।
3. स्कूल पाठ्यक्रम का समुदायिक जीवन से पृथक होना ।
4. बच्चों का पढ़ाई में निम्न स्तर, बार-बार की असफलता।
5. अध्यापकों की अपने कार्यों में उदासीनता ।

ये मुख्य कारणों में आते हैं ।

यह सच है कि प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलों (सरकारी और सहायता प्राप्त) में फीस नाममात्र की होती है, लेकिन गरीबों के पास तो उतना भी देने के लिए नहीं होता । पाठ्यपुस्तकों और लेखन सामग्री का खर्च अलग । नेशनल सेंपिल सर्वे के 52 वें दौर (जुलाई 95 जून 96) के आंकड़ों के हिसाब से प्राथमिक स्तर पर औसत निजी वार्षिक खर्च रुपये 501 प्रति बच्चा और माध्यमिक स्तर पर यही 915 रूपये प्रति बच्चा था । जबकि उच्च माध्यमिक स्तर पर रुपये 1577 था । साथ ही निर्धन परिवारों में बच्चे को स्कूल भेजने का अक्सर मतलब होता है कि उसे काम से दूर कर दिया जाये । जहां वह कुछ उत्पादन कर सकता है, कुछ कमा सकता है । इसलिए निर्धन परिवारों के लिये, शिक्षा में नष्ट होने वाले समय का मतलब है, रोजगार से प्राप्त आय का कम होना । यहां इस बात पर ध्यान देना होगा कि पिछले 10 वर्ष हमारे यहां उदारीकरण के रहे हैं, और उदारीकरण के इस दशक में देश में गरीबी की रेखा के नीचे की आबादी सन् 1990 - 91 में 29.10 करोड़ से बढ़कर सन् 1998 में 40.63 करोड़ हो गयी । यही नहीं योजना आयोग के सदस्य श्री एस. पी. गुप्ता के अनुसार देश में शहरी गरीबी में तो थोड़ी गिरावट की प्रकृति रही। जबकि ग्रामीण गरीबी में तीव्र गति से वृद्धि हुई । सामान्य और अनुसूचित जाति के लड़कों का ग्यारहवीं और बारहवीं कक्षा में नामांकन का प्रतिशत सन् 1986 से 1996 में तुलना करने पर कम हुआ है -

कक्षा 11 व 12 में	सामान्य नामांकित लडके	अनुसूचित जाति नामांकित लडके
1986	69.23%	76.52%
1996	64.67%	70.68%

अनुसूचित जातियों का शैक्षिक विकास - एस. के. चटर्जी पृष्ठ - 172

हमें इस पर अवश्य ध्यान देना चाहिए कि इस कमी का कारण 1986 के पश्चात शुरू उदारीकरण के कारण गरीबी रेखा के नीचे आने वाली जनसंख्या का बढ़ जाना तो नहीं है ? क्योंकि हमारे समाज में घर परिवार चलाने की मुख्य जिम्मेदारी पुरुषों पर ही आती है ।

इसके साथ ही तीसरी कक्षा से अंग्रेजी शुरू करने की सिफारिश शिक्षा की किस प्रकार की व्यवस्था के अन्तर्गत लागू होने वाली है, यह भी बहुत महत्वपूर्ण है । हमारी शिक्षा व्यवस्था की हालत तो ऐसी है कि गावों के स्कूलों में पूरे अध्यापक नहीं होते, यदि होते भी हैं तो ठीक से पढ़ाते नहीं । क्योंकि अपने मनचाहे स्थान पर

पदस्थापन करवाकर अन्य व्यवसायिक गतिविधियां में संलग्न हो जाते हैं इसलिए पढ़ाने में उनकी रुचि नहीं होती । दूसरा कारण है कि उन्हें ठीक ढंग से प्रशिक्षण प्राप्त नहीं होता । जब वे लोग, अपनी भाषा ही ठीक ढंग से नहीं पढ़ाते, तो अंग्रेजी पढ़ाना तो दूर की बात है। श्री एल. आर. एन. श्रीवास्तव ने 1970 में (समय काफी हो गया, लेकिन स्थितियां कमोबेश वही रहने के कारण, सार्थकता वही है) उड़ीसा के सओरा कबीले की शिक्षा संबंधी समस्याओं का अध्ययन किया । उनके अध्ययन में यह साफ बतलाया गया कि स्थानीय शिक्षकों के अनुसार बच्चों की असफलता का सबसे महत्वपूर्ण कारण अनजानी भाषा में लिखी गयी पाठ्यपुस्तकें हैं ।'' कृष्ण कुमार ने अपने लेख *एजूकेशन एक्पीरियंस ऑफ शिडयूल्ड कास्ट एण्ड ट्राईब्स* में भी इन समस्याओं पर काफी प्रकाश डाला गया है ।

ऐसी परिस्थितयों में जब तीसरी कक्षा से अंग्रेजी विषय के रूप में भी शुरू की जायेगी तो क्या स्कूल छोड़ने वाले बच्चों की संख्या बढ़ नही जायेगी ? विशेषकर ग्रामीण स्कूलों में और शहर के निम्न वर्गीय इलाकों के स्कूलों में ।

असल में अंग्रेजी का कक्षा 3 से या कक्षा 6 से पढ़ाया जाना, विशेषाधिकार प्राप्त लोगों के ही दो हिस्सों के बीच की असमानता की समस्या है । यह उन लोगों की तो समस्या ही नहीं है, जिनके बच्चे स्कूल में नहीं जाते या फिर बीच में ही स्कूल छोड़ देते हैं। इन लोगों की समस्या तो इससे बिल्कुल विपरीत है। इसलिये अंग्रेजी की जरूरत वाले अल्पमत और उस बहुमत (जिसे कि इसकी जरुरत नहीं) के बीच कहीं बड़ा अन्तर है । और यदि इसमें (जिसे अंग्रेजी की जरुरत नहीं) उन बच्चों को भी जोड़ दिया जाये, जो कभी स्कूल में भर्ती नहीं हुये या तीसरी कक्षा से पहले ही स्कूल से बाहर आ गये, तो दो वर्गो के बच्चों के बीच अन्तर और भी गहरा हो जाता है । प्राथमिक स्तर पर अंग्रेजी शुरु न करने का महत्व, इसी वजह से, सामने आता है ।

प्राथमिक स्तर पर अंग्रेजी की शुरुआत की मांग यदि शहरी मध्यम वर्ग और ग्रामीण उच्च मध्यम वर्ग की तरफ से भी आती है, तो हमें यह समझना चाहिये कि यह मांग-जैसा कि पहले कहा गया - समाज के इस हिस्से की उपनिवेशीकृत मनोदशा से उपजती है और इस प्रकार की मांगें कहीं न कहीं, इस व्यवस्था को मजबूती प्रदान करती है । इस संदर्भ में एक अच्छा उदाहरण 1979-80 में बंगाल में, वाम मोर्चा सरकार द्वारा प्राथमिक शिक्षा से अंग्रेजी का हटाया जाना था । इसके खिलाफ बंगाली भद्र लोक ने जमकर आन्दोलन किया, लेकिन आन्दोलन के मुद्दे और तरीके आन्दोलनकारियों के वर्ग चरित्र और उनकी सामाजिक स्थिति को दर्शाते थे । हालांकि वाम मोर्चा सरकार की संपूर्ण शिक्षा नीति पर ही चोट की गयी थी, लेकिन प्राथमिक स्तर पर अंग्रेजी का हटाया जाना, मुख्य प्रश्न बनाया गया ।

अगर हम यह भी मान लें कि शहरी निम्न मध्यमवर्गीय और ग्रामीण उच्च मध्यम वर्गीय लोग, इस आशय से कि अंग्रेजी जानने की वजह से परिवार के युवा सदस्यों के लिये आय के नये रास्ते खुलेंगे तो इस कोशिश में उन्हें निराशा भी हाथ लग सकती है । इसे यदि ठीक से समझना है तो हमें शहर-कस्बों की गलियों में कुकुरमुत्ते की तरह उगे उन स्कूलों के अधिकांश बच्चों की तरफ देखना चाहिये, जिनमें अंग्रेजी न सिर्फ कक्षा एक से अनिवार्य विषय है बल्कि कक्षा एक में भर्ती की परीक्षा में भी अनिवार्य है । अभी तक हमारे यहां ऐसा कोई सर्वे नहीं हुआ जो यह बता सके कि इन कथित पब्लिक स्कूलों के विद्यार्थी, किन-किन व्यवससायों में कहां कहां तक पहुंचे ।

इन तथ्यों को मद्दे नजर रखते हुये हमें पाठ्यक्रम की रचना करने वालों से सवाल पूछना ही चाहिए कि देश के कितने और कौन से लोगों को लक्ष्य बना कर इस पाठ्यक्रम की रचना की गई है ? क्योंकि आजाद भारत को अंग्रेजी, साम्राज्यवादी व्यवस्था की कार्यप्रणाली के अन्तर्गत आत्मा के रूप में मिली है और भाषा के रूप में उसका लाभ समाज के केवल उसी हिस्से को मिला, जिसमें कि वो आदतन बोली जाती है । किताबी अंग्रेजी सीखकर इस वर्ग के बाहरी दायरों तकही पहुंचा जा सकता है। वैसे भी शिक्षा शास्त्रीय दृष्टि से यह पाया गया है कि मातृभाषा में शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद, नई भाषा सीखने में एक साल की कड़ी मेहनत काफी होती है । वे भारतीय विद्यार्थी जो गैर-अंग्रेजी भाषा-भाषी देशों से डिग्रियां लेते हैं, एक साल की पढ़ाई के पश्चात वहां की भाषा में माहिर हो जाते हैं ।

तीसरी कक्षा से अंग्रेजी शुरू करने की सिफारिश शिक्षा की किस प्रकार की व्यवस्था के अर्न्तगत लागू होने वाली है, यह बहुत महत्वपूर्ण है । हमारी शिक्षा व्यवस्था की हालत तो ऐसी है कि गावों के स्कूलों में पूरे अध्यापक नहीं होते, यदि होते भी हैं तो ठीक से पढ़ाते नहीं। क्योंकि अपने मनचाहे स्थान पर पदस्थापन करवाकर अन्य व्यवसायिक गतिविधियां में संलग्न हो जाते हैं इसलिए पढ़ाने में उनकी रुचि नहीं होती । दूसरा कारण है कि उन्हें ठीक ढंग से प्रशिक्षण प्राप्त नहीं होता । जब वे लोग, अपनी भाषा ही ठीक ढंग से नहीं पढ़ाते, तो अंग्रेजी पढ़ाना तो दूर की बात है।

इस पूरे विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते हैं कि यदि अंग्रेजी तीसरी कक्षा से विषय के रूप में शुरू की गयी तो ग्रामीण और शहरो-कस्बों के निम्न वर्गीय इलाकों में, बच्चों के स्कूल छोड़ने की दर बढ़ सकती है जिससे कि शिक्षा में पहले से मौजूद असमानतायें और बढ़ जायेंगी, जो प्रणाली के संख्यात्मक विस्तार और गुणवत्ता पर बुरा प्रभाव ही डालेंगी । इसके सामाजिक परिणाम, समाज के बड़े हिस्से के लिए कतई लाभप्रद नहीं होंगे ।

दस्तावेज की सबसे महत्वपूर्ण सिफारिश सीनियर सैकेण्डरी (+2) के स्तर पर पाठ्यक्रम में विभेदीकरण करते हुये, उसका व्यवसायोन्मुखी बनाया जाना है । इस स्तर पर पाठ्यक्रम दो धाराओं के अन्तर्गत रखा गया है । (पृष्ठ 78) पहली धारा है अकादमिक कोर्स की ओर दूसरी धारा है वोकेशनल (व्यवसायिक कोर्स की। वोकेशनल कोर्स शुरू करने की जरूरत क्यों है इसके लिये दस्तावेज में कई कारण दिये हैं । जिनमें से एक बहुत हल्का कारण यह भी है कि वोकेशनल कोर्सेज फॉर आल हेज बीकम द सेन्ट्रल फॉर्स ऑफ वर्ल्ड टू डे । पृष्ठ 82 पर इसी तर्क को आगे बढाते हुये कहा गया है ''विकसित देशों में 65 से 90 प्रतिशत विद्यार्थी सैकेण्डरी स्तर से कोई न कोई वोकेशनल कोर्स या तकनीकी कोर्स अपनाते हैं । पृष्ठ 78 पर वोकेशनल कोर्स +2 स्तर पर शुरू करने के उद्देश्यों में अनेक तर्क गिनाये गये हैं । इसी पृष्ठ में तीसरे पैरा में स्वरोजगार को महत्व देते हुये लिखा है ''इशपेशली फॉर सेल्फ एम्पलायमेंट'' ।

हम इन उद्देश्यों और इनके क्रियान्वयन की रूपरेखा का विश्लेषण शिक्षा में समानता, संख्यात्मक विस्तार और गुणवत्ता के संदर्भों में करेंगे और देखेंगे कि यह शिक्षा के पिरामिडनुमा ढांचे को किस प्रकार से प्रभावित करता है।

हमारे यहां 10 वीं कक्षा के पश्चात वोकेशनल कोर्सेज के लिये आई. टी. आई. और कई अन्य प्रकार की व्यवसायिक कोर्स से संबंधित संस्थाएं काफी समय से काम कर रही हैं । 1998 में डिग्री से कम स्तर की प्रोफेशनल/तकनीकी और व्यवसायिक संस्थाओं की कुल संख्या 6561 थी । इसी प्रकार 1997 में देश में कुल 3665 आई. टी. आई. संस्थाओं में 5,73,467 स्थान उपलब्ध थे । लेकिन इन संस्थाओं के विषय में ज्यादा जानकारी और सांख्यिकी हमें उपलब्ध नहीं होने के कारण हम अपने विश्लेषण के लिये आई.टी.आई से संबंधित केन्द्रीय और राज्य स्तर पर कितने स्थान शिल्प ट्रैनिंग (एपरेन्टिसशिप) के लिए विभिन्न वर्षों में उपलब्ध थे और कितनों का उपयोग हुआ इसके आंकडों का उपयोग कर सकते हैं ।

वर्ष	स्थान उपलब्ध	स्थान उपयोग	प्रतिशत
1989	186344	134004	71.91
1990	189135	133156	70.40
1991	186219	135860	72.96
1992	187812	132496	70.54
1993	208465	138300	66.34
1994	211701	141542	66.86
1996	225254	149181	66.23
1997	235797	157361	66.73

मेनपावर प्रोफाईल-ईयर बुक 1999 जनसाधन संस्थान - भारत पृष्ठ संख्या 138.

ऊपर की सारणी देखने पर साफ पता चलता है कि आई. टी. आई. में शिल्प विधा प्रशिक्षण की स्थिति क्या है । 1997 में 67% स्थानों का उपयोग ही हो पाया जबकि 33% स्थानों का उपयोग नहीं हुआ । इतना ही नहीं, बल्कि इससे भी दुखद: स्थिति यह है कि सन् 1989 में 72% स्थानों का उपयोग हुआ था जो निरन्तर कम होता जा रहा है। यदि हम शिल्प विद्या के विविध ट्रेडस में प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे विद्यार्थियों की संख्या पर नजर डालें तो स्थिति की भयावता और बढ़ जाती है ।

उन शिल्पार्थियों की संख्यां जो प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे थे और ट्रेड परीक्षा में बैठे और उर्त्तीण हुये (हजार में)

वर्ष	प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे शिल्पार्थी	परीक्षा में बैठे शिल्पार्थी	परीक्षा में उत्तीर्ण शिल्पार्थी
1989	132.83	57.66 (43.41%)	39.28(68%)
1990	125.74	51.77 (41.17%)	34.69(84%)
1991	129.28	42.54 (32.90%)	27.76(65%)
1992	133.32	36.70 (27.51%)	26.11(71%)
1993	134.37	45.44 (33.82%)	27.14(60%)
1994	136.11	50.90 (37.39%)	34.00(61%)
1995	148.82	47.71 (32.06%)	32.50(68%)

मेनपावर प्रोफाईल-ईयर बुक 1999 जनसाधन संस्थान - भारत पृष्ठ संख्या 136.

उपरोक्त सारणी देखने पर पता चलता है कि वर्ष 1989 में 132.83 हजार शिल्पार्थी प्रमोशन के लिए नामांकित हुये, लेकिन परीक्षा में मात्र 57.66 हजार शिल्पार्थी ही बैठे यानी 57% शिल्पार्थी परीक्षा में नहीं बैठे जो 43 % शिल्पार्थी परीक्षा में बैठे । उनमें से भी 68% ही सफल हुये । इस प्रतिशत को यदि हम साल दर साल देखें तो पता चलेगा कि आई.टी.आई. में भी ड्राप आऊटस की

संख्या निरन्तर बढ़ रही है । यहां पर इस तथ्य को भी ध्यान में रखना चाहिये कि आई. टी. आई में प्रवेश लेने वाले अधिकतर ग्रामीण और कस्बाई बच्चे होते हैं, जिनके मां-बाप की आर्थिक स्थिति कमजोर होती है और जो पूर्व की कक्षाओ में कम अंक से उर्तीण होते हैं । जो कि जल्द से जल्द प्रशिक्षण प्राप्त कर सकें, इस सपने के साथ यहां आते हैं ।

यहां पर प्रश्न उठता है कि जब आई. टी. आई. का यह हाल है तो फिर +2 के स्तर पर पाठ्यक्रम में इस विभेदीकरण की क्या आवश्यकता पड़ गयी ? दस्तावेज के पृष्ठ 78-79 पर दिये गये उद्देश्यों और पृष्ठ 106 से 110 पर दिये गये इसके कार्यक्रम और क्रियान्वयन की रूपरेखा को यदि हम जरा ध्यान से देखें तो हमें भली भांति समझ में आ जायेगा कि इस विभेदीकरण को क्यों शुरू किया गया । फिर भी हम कुछ एतिहासिक तथ्यों को आधार बना कर इसका विश्लेषण करेंगे, और इस विभेदीकरण के शुरू करने के प्रच्छन्न कारण और उनके सामाजिक प्रभाव को समझने की कोशिश करेंगे ।

अंग्रेजी तीसरी कक्षा से विषय के रूप में शुरू की गयी तो ग्रामीण और शहरो–कस्बों के निम्न वर्गीय इलाकों में, बच्चों के स्कूल छोड़ने की दर बढ सकती हैं जिससे कि शिक्षा में पहले से मौजूद असमानतायें और बढ़ जायेंगी, जो प्रणाली के संख्यात्मक विस्तार और गुणवत्ता पर बुरा प्रभाव ही डालेंगी । इसके सामाजिक परिणाम, समाज के बडे हिस्से के लिए कतई लाभप्रद नहीं होंगे ।

वोकेशनल कोर्स के लिए यह विभेदीकरण, हमारे देश में उदार अर्थनीति और भूमण्डलीकरण के दौर में लाया गया। इस दौर में, इन नीतियों के चलते, हमारे देश के कुछ औद्योगिक सेक्टर में तकनीकी और प्रबन्धकीय जटिलता बढ़ेगी । इनमें कौशल अधिक विविध हो जायेंगे और कुशल श्रमिक अधिक गतिशील । देशी-विदेशी बड़ी कंपनियां मध्य स्तर के सामान्य कौशलों में निवेश करने की इच्छुक नहीं रहेंगी । क्योंकि मजदूर अन्य कंपनियों में जाकर अपने सामान्य प्रशिक्षण लाभ उन्हें उठाने का मौका दे सकते हैं । इसलिए सामान्य और मध्य दर्जे के प्रशिक्षण का कार्यभार स्कूलों के जिम्मे छोड़ दिया गया । इस कार्य को दक्षता से संपन्न करने के लिए विद्यालयों को यह आवश्यक हो जायेगा कि वे व्यावसायिक लक्ष्यों के अनुसार विभेदीकरण करें । स्कूलों का यह कार्यभार, दो महत्वपूर्ण कार्य कर सकता है -

1. काम के बाजार में श्रम की पहचान आसानी से हो जायेगी ।
2. स्कूल लोगों को कुछ कामों का प्रशिक्षण देकर उन्हें यह यकीन दिलाने का काम करेंगे कि किन बच्चों को किस तरह के काम करने की इच्छा रखनी चाहिये । पहले से प्रबन्धकों एवं सरकार की श्रम प्रबन्धन की क्षमता बढ़ जायेगी, जो कि श्रम को सामाजिक नियंत्रण में रखने में मदद करेगी। दूसरा एक मनोवैज्ञानिक दबाब पैदा होगा जिसके कारण श्रम की गतिशीलता बाधित होगी ।

साथ ही जैसे ही व्यवसायिक पाठ्यक्रम शुरू होंगे, तो यह बहुत ही स्वाभाविक रूप से होगा कि जो बच्चे विभिन्न कारणों से अकादमिक धारा में नहीं जा पायेंगे, उन्हें नीची श्रेणी के व्यावसायिक पेशों के लिये तैयार किया जायेगा । इस तरीके से हमारे यहां पूर्ववर्ती शैक्षिक सुधारों में अन्तरनिहित समान अवसर की अवधारणा को त्याग दिया गया । जिसके अन्तर्गत समान पाठ्यक्रम के आधार पर उच्च विद्यालयों में सभी अमीर और गरीब छात्रों को एक साथ पढ़ना था और समाज की लम्बबत (वरटीकल) गतिशीलता में समान रूप से भागीदार बनना था ।

लेकिन हम देख रहे हैं कि जैसे ही ग्रामीण और आर्थिक सामाजिक रूप से कमजोर बच्चे सदी के अन्त में जैसे जैसे उच्च स्तरीय विद्यालयों में पहुंचने शुरू हुये तथा जैसे ही निम्न जातियों और निम्न वर्ग के लोग अपने अधिकारों के लिये, सामाजिक-राजनैतिक रूप से जागरूक हुये, वैसे ही पाठ्यक्रम में विभेदीकरण करना शुरू कर दिया गया । नीचे दी गई सारणी इसे स्पष्ट कर रही है । 6

सैकेण्डरी और हायर सेकेण्डरी स्तर पर अनुसूचित जातियों के बच्चों में, नामांकन के लिये समानता का गुणांक

वर्ष	1965-66	1976-77	1985	1995
समानता का गुणांक	45.5	61.8	80.44	81.61

अनुसूचित जातियों का शैक्षिक विकास - एस. के. चटर्जी पृष्ठ - 105

नये पाठ्यक्रम के अर्न्तगत, समान योग्यता के प्रत्येक विद्यार्थी को समान अवसर की नई संकल्पना के साथ जोड़ा गया है । जिसका अर्थ है सभी के लिए ऐसी शिक्षा प्राप्त करने का अवसर जो उन्हें अपने विशेष जीवन कार्य के लिए समान रूप से सुयोग्य बना सके । विद्यार्थी की योग्यता और व्यवसायिक अभिरूचि की जांच पड़ताल 11 वीं के स्तर पर ही स्कूली शिक्षा का अभिन्न अंग बन जायेगी । इसकी वजह से आर्थिक सामाजिक रूप से कमजोर वर्ग के लोग अपने बच्चों को व्यवसायिक धारा में प्रवेश अपनी

आर्थिक स्थिति में सुधार के लिए करायेंगे, इस आशा से कि बच्चे इसकी वजह से जल्दी रोजगार प्राप्त कर कमाना शुरू कर देंगे । जबकि उच्च वर्ग और अच्छी आर्थिक स्थिति के बच्चे, अकादमिक और प्रोफेशनल धारा से उच्च शिक्षा प्राप्त कर (प्रशासनिक क्षेत्रों में जाकर) निम्न वर्ग के बच्चों की जीवन धारा को निरूपित और नियंत्रित करेंगे । इस विभाजन से समाज की वर्गीय स्थित को सुरक्षित रखा जा सकेगा । कारनॉय के अनुसार ''यह लक्ष्य समाज के एक विशेष और श्रेणीगत दृष्टि से लिया गया जो एक विशेष वर्गीय आर्थिक दृष्टिकोण से निकलता है । अमीर और ताकतवर लोग गरीबों और कमजोरों से ज्यादा चतुर होते हैं और इसलिये उन्हें धनवान और शक्तिशाली बने रहने का अधिकार है तथा समाज शक्ति के इस विषम वर्गीय विभाजन से लाभान्वित होता है ।''

हो सकता है कि यह परिवर्तन आपको सही लगे । क्योंकि अभी तक होता यह था कि ग्रामीण और निम्न वर्ग के बच्चे मध्यम, उच्च मध्यम शहरी वर्गोंउन्मुख पाठ्यक्रम के कठिन प्रश्नों को समझ कर हल नहीं कर पाते थे और असफल (फैल) होकर वो स्कूल छोड़ देते थे । 1997-98 के आंकडे इस बात की पुष्टि करते हैं, लडकों में 68% और लड़कियों में 73% बच्चों ने 11 वीं कक्षा में पहुंचने से पहले ही स्कूल छोड़ दिया । परन्तु अकादमिक स्वरूप में कुछ परिवर्तन करने की बजाय सुधारकों ने पाठ्यक्रम का ही विभेदीकरण कर दिया। जिससे कि निम्न वर्ग के बच्चों को स्कूल छोड़ने की जरूरत भी न पड़े और उनको अकादमिक और प्रोफेशनल शिक्षा भी न दी जाए । यानी ड्राप आऊट्स का हल, विभेदीकरण कर निकाला गया । क्या सुधारकों ने वाकई ईमानदारी से यह सोचा कि सभी बच्चे दाखिल हों और देर तक पढ़ें ?

यदि हम, विश्व के साम्राज्यवादी इतिहास पर नजर डालें तो हम पाते हैं कि साम्राज्यवादी देशों ने अपने उपनिवेशों में इसी प्रकार की विभेदीकृत शिक्षा प्रणाली अपना रखी थी । तो क्या उनका भी मंतव्य यही था कि सभी बच्चे दाखिल हों और देर तक पढें ? इसका बहुत अच्छा उदाहरण अफ्रीका के उन भागों का है जहां फ्रान्सीसी आधिपत्य था । फ्रांसीसी साम्राज्य की शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत अफ्रीकी अभिजन वर्ग के बच्चों को अकादमिक शिक्षा दी गयी और निम्न वर्ग के बच्चों को व्यावसायिक शिक्षा दी गयी । कारण ''अफ्रीका में भारतीय शैली की अशांति से बचने का तरीका'' बताया गया । कहा गया कि भारत में, माध्यमिक शिक्षा स्तर प्राप्त करने के पश्चात ''बहुत लोग ऐसे हैं जो लिखने बोलने के लिये तैयार बैठे हैं लेकिन थोड़े ही लोग हैं जो खेती या अन्य महत्वपूर्ण यांत्रिक कार्यों को करने के लिए तैयार हों ।'' और यही बात 1920 के दशक में एक अमेरिकी थामस जैस जोन्स ने फैल्पस स्टोक्स रिर्पोटों के द्वारा कही । इन रिर्पोटस में ब्रिटिश अधिकारियों को अफ्रीका में शैक्षिक अनुकूलन के लिये व्यावसायिक शिक्षा का सुझाव दिया गया । जिसके अन्तर्गत मुख्यत: ग्रामीण दस्तकारियां सिखाने का कार्यक्रम था ।

प्रस्तुत दस्तावेज के पेज नं. 84 के पहले पैराग्राफ में भी इस बात की जोरदार सिफारिश की गई है । ''द ट्रेडिशनल इंडियन वे ऑफ लाइफ ..... दे हैव पोटेन्शियल टू ग्रो'' ! जोन्स ने स्पष्ट रूप से कहा कि ''यह मॉडल अकादमिक स्कूली शिक्षा की अपेक्षा उपनिवेशों में अशांति के नियंत्रण में ज्यादा कारगर होगा ।''

हम पाठ्यक्रम का दस्तावेज बनाने वालों से पूछना चाहेंगे, क्या भारत के ग्रामीण क्षेत्र उपनिवेश हैं ? जिनमें आने वाले वर्षों में अशांति का डर है ? क्या इस अशांति के निमंत्रण के लिये तो विभेदीकरण की यह नीति नहीं अपनायी गयी ?

20 वीं सदी के शुरू में अमेरीका में भी ''औद्योगिक शिक्षा काले लोगों की शिक्षा का समाधान'' था । जिसके अनुसार कालों को निम्नतर कार्यों और पदों की शिक्षा दी जाती थी।

यदि हम ऊपर के तथ्यों को नजरअंदाज कर यह मानते हैं कि इस विभेदीकरण का प्रमुख कारण बच्चों को कार्य क्षेत्र विशेषकर स्वरोजगार के लिये तैयार करना है । जैसा कि दस्तावेज के पृष्ठ 78 पर दिया गया है, और दस्तावेज के तैयार करने वालों की मंशा अच्छी है ।

हमारे पास इसके विश्लेषण के लिए 1977 से 1994 तक संगठित और असंगठित क्षेत्रों में स्वरोजगार में लगे लोगों के प्रतिशत के आंकडे उपलब्ध हैं -7

वर्ष	**संगठित क्षेत्र में स्वरोजगार**	**असंगठित क्षेत्र में स्वरोजगार**	**कुल स्वरोजगार**
1977-78	56.5	6.6	63.1
1983-84	54.2	6.3	60.5
1987-88	53.2	7.2	60.4
1993-94	51.7	7.0	58.7

सामयिक वार्ता - जनवरी 2000.

इस सारणी से स्पष्ट नजर आ रहा है कि 1977 से 1994 तक संगठित क्षेत्र में स्वरोजगार लगातार कम होता गया है जबकि असंगठित क्षेत्र में स्वरोजगार के बढ़ने की दर बहुत ही कम रही है। संगठित और असंगठित क्षेत्रों को मिलाकर देखने पर हम पाते हैं कि स्वरोजगार का प्रतिशत लगातार गिर रहा है । उदारीकरण के 10 सालों में स्थिति यह है कि हमारे संगठित क्षेत्र के कारखाने-कारोबार या तो बन्द हो रहे हैं या उन्हें विदेशी कम्पनियों के हाथों बेचा जा

रहा है। यह भी साफ हो गया कि विदेशी कंपनियों की ज्यादा दिलचस्पी भारत में नये कारखाने या धन्धे शुरू करने की नहीं है, वो या तो शेयर बाजार की सट्टेबाजी से तुरत-फुरत मुनाफा कमाना चाहती हैं या पहले से चले आ रहे उद्योगों व कारोबारों पर कब्जा कर एकाधिकारी मुनाफे को अपने देश भेजने में है । इसलिये विदेशी पूंजी से, जिसके आंकडे रोजाना भारत सरकार बढ़ा चढ़ा कर पेश करती है, रोजगार में कोई चमत्कारी वृद्धि होगी यह भ्रम टूटना चाहिये। साथ ही, यह अर्थशास्त्रीय प्रमाणित सत्य है कि अर्थव्यवस्था में पहल संगठित क्षेत्र की होती है, और असंगठित क्षेत्र की वृद्धि व उसमें रोजगार में वृद्धि संगठित क्षेत्र की वृद्धि पर ही निर्भर करती है । सरकार आजकल तो संगठित क्षेत्र में रोजगार घटाने के लिये वी. आर. एस. जैसे नीतियां लाकर छंटनी करने पर उतारू है । इसी प्रकार अर्थ व्यवस्था में स्वरोजगार के अवसर भी, संगठित असंगठित क्षेत्रों की नियमित गति पर निर्भर करते हैं । जब इन क्षेत्रों में मंदी रहेगी (अर्थ व्यवस्था में मंदी रहेगी) तो स्वरोजगार के अवसर भी नहीं पनप सकते। तब व्यवसायिक शिक्षा प्राप्त करने वाले निम्न वर्गीय छात्रों का भविष्य क्या होगा, इसका अंदाजा हम आसानी से लगा सकते हैं । हमारा काम यही होगा कि हम खाड़ी देशों को अपने इन प्रशिक्षित लोगों का निर्यात करेंगे । लेकिन भारतीय उपमहाद्वीप के लगभग सभी देशों की यही स्थिति है तो खाड़ी देशों में रोजगार के बढ़ने की संभावनायें भी क्षीण हो जायेगी । सिद्धांत के आधार पर भी व्यावसायिक शिक्षा को बेरोजगारी का हल मानना गलत है । क्योंकि यह मसला आपूर्ति से जुड़ा है, जो ये मानता है कि बाजार में जो काम या नौकरियां उपलब्ध हैं, उनके लिये स्कूल उपयुक्त प्रशिक्षण नहीं दे रहे । लेकिन शिक्षा कार्यों की मांग पैदा नहीं करती, सिर्फ अध्यापक का पेशा इसका अपवाद हैं।

व्यवसायिक पाठ्यक्रम शुरू होंगे, तो यह बहुत ही स्वाभाविक रूप से होगा कि जो बच्चे विभिन्न कारणों से अकादमिक धारा में नहीं जा पायेंगे, उन्हें नीची श्रेणी के व्यावसायिक पेशों के लिये तैयार किया जायेगा । इस तरीके से हमारे यहां पूर्ववर्ती शैक्षिक सुधारों में अन्तरनिहित समान अवसर की अवधारणा को त्याग दिया गया । जिसके अन्तर्गत समान पाठ्यक्रम के आधार पर उच्च विद्यालयों में सभी अमीर और गरीब छात्रों को एक साथ पढ़ना था और समाज की लम्बबत (वरटीकल) गतिशीलता में समान रूप से भागीदार बनना था ।

दस्तावेज के पृष्ठ 80 पर पैरा 3.12.4 में उस प्रक्रिया का विवरण है जिसके द्वारा विभिन्न स्कूलों में विभिन्न व्यावसायिक पाठ्यक्रम शुरू किये जायेंगे। इस प्रकार पृष्ठ 109 पर अंकित है द बेसिक रिक्वायरमेंट फॉर प्रोपर ... बाई एस सी ई आर टी/बाई एस.आई.वी.ई. ओर डायरेक्टोरे । इनके अनुसार स्कूल के प्रभावी क्षेत्र या जिले में एक सर्वे किया जाना चाहिये जिससे कि यह पता चल सके कि उस क्षेत्र विशेष में किस तरह के व्यावसायिक कोर्स की आवश्यकता, सार्थकता और भविष्य में खपत है । मौटे तौर पर व्यवसायिक पाठ्यक्रमों को उन्होंने सात भागों में बांटा है जिनमें कृषि, व्यवसाय व वाणिज्य, स्वास्थ्य एवं पैरा मेडिकल सर्विसेज, गृह विज्ञान, गृह अर्थशास्त्र, मानविकी, तकनीकी एवं अन्य कोर्स।

उपरोक्त प्रक्रिया के आधार पर जब हम पाठ्यक्रमों का निर्धारण करेंगे तो औद्योगिक दृष्टि से संपन्न जिलों के स्कूलों में और पिछड़े जिलों के स्कूलों में, व्यवसायिक शिक्षा के पाठ्यक्रम अलग अलग होंगे । उदाहरण के लिए जयपुर जिले के पाठ्यक्रम तो औद्योगिकी, कम्प्यूटर विज्ञान, सूचना क्रान्ति के आधार पर निर्धारित किये जायेंगे। लेकिन टोंक जिले के कार्यक्रम बीड़ी उत्पादन और कुछ कृषि कार्यों के आधार पर तय किये जायेंगे । पाठ्यक्रमों के इस प्रकार से निर्धारण के परिणामों का अंदाजा आसानी से लगाया जा सकता है । पहला परिणाम यह होगा कि विभिन्न क्षेत्रों में शैक्षिक असमानतायें बढ़ेंगी । दूसरा परिणाम यह होगा कि अपेक्षाकृत औद्योगिक क्षेत्रों में श्रम का प्रवास बाधित होगा । इससे श्रम के सामाजिक नियंत्रण में सहायता पहुंचेगी ।

दस्तावेज के पृष्ठ 109 और 110 पर कुछ और महत्वपूर्ण वाक्य हैं, जो कि इस विभेदीकरण की असलियत का पूरी तरह खुलासा कर देते हैं ।

यहां पर ध्यान देने की बात यह है कि हमारे यहां के उद्योगपति और अन्य व्यवसायी स्कूली शिक्षा के क्षेत्र में आजादी के पहले से ही सहयोग करते आये हैं और भविष्य में भी करेंगे । लेकिन क्यों? हमें लगता है कि -

1. स्कूल वे प्राथमिक स्थान है जहां उन ज्ञानात्मक और तकनीकी कौशलों को सिखाया जाता है जो कि आर्थिक संवृद्धि को तेज करने के सामाजिक, राजनैतिक लक्ष्य के अनुरूप है ।

2. स्कूल वे स्थान हैं जो आधुनिक श्रमजीवी वर्ग का निर्माण करते हैं जिसके प्रौद्योगक और सामाजिक परिवर्तन (जिसे कि पूंजीपति लाना चाहते हैं) के प्रति आधुनिक दृष्टिकोण होता है ।

3. जैसा कि हम अपने विश्लेषणों में देख चुके हैं कि व्यवसायिक शिक्षा कौशलपूर्ण श्रम बल तैयार करने का काफी प्रभावकारी तरीका है और साथ ही सामाजिक रवैये को भी जस का

तस कायम रखा जा सकता है । यहां पर इस बात पर ध्यान देना जरूरी है कि + 2 के स्तर पर व्यवसायिक शिक्षा के अर्न्तगत सिर्फ सीमित कौशल ही सिखाया जा सकता है, जो कि पूंजीपतियों के कारखानों में अकुशल और कुशल के मध्य पड़ने वाले श्रम कार्य के लिए जरूरी होता है ।

4. लेकिन सबसे महत्वपूर्ण तथ्य है कि उद्योगपतियों ने यह पहचान लिया है कि स्कूल ऐसा साधन है जिसके द्वारा एक अनुशासित श्रमबल का निर्माण किया जा सकता है । कारखानों में काम की पद्धतियों की दृष्टि से समय की पाबंदी और अपने से ऊपर वालों का आदर बहुत महत्वपूर्ण है। इसलिए दस्तावेज निर्माण करने वालों ने यह समझ लिया कि यदि बच्चों को नियमित रूप से स्कूल में हाजिर रहना, सभी काम समय पर करना और अध्यापक की सत्ता को स्वीकार कर स्कूल की पुरस्कार दण्ड-प्रणाली में पारंगत कर दिया जायेगा तो वे आगे चलकर कारखानों में भी ठीक वक्त पर पहुंचेगे और आज्ञाकारी मजदूर भी बने रह सकेंगे ।

कारनॉय अमेरिका के दक्षिणी भाग में दक्षिणी शिक्षा बोर्ड द्वारा 1909 के आसपास चलाये गये जनशिक्षा अभियान के बारे में लिखते हैं,/जब बोर्ड ने दक्षिण में जन शिक्षा अभियान चलाया और इस प्रकार गोरे और काले स्कूलों की खाई को चौड़ा कर दिया तब लोक कल्याण वादियों ने प्रत्यक्ष रूप से कालों की शिक्षा के लिए धन दिये, परन्तु ऐसे तरीकों से जो दक्षिणी संवेदनशीलता और स्वयं उनके दृष्टिकोण से मेल खाती हो। जिनके अनुसार कालों को (भारत में अनुसूचित जातियों/जनजातियों के संदर्भ में देखें) केवल निम्नतर कार्यों और पदों के लिए शिक्षा दी जा सकती थी । यह समाधान उत्तर के उद्योगपतियों को पसंद था क्योंकि वे विकास के लिए प्रशिक्षित आज्ञाकारी, सस्ता अकुशल अर्धकुशल मजदूर वर्ग चाहते थे । साथ ही यह हल दक्षिण के गोरों को भी उचित मालूम पड़ा क्योंकि वे पुस्तक पढ़ने वाले कालों को देखना ना पसंद करते हैं । हेपस और टिस्कगी संस्थान इस प्रकार के प्रशिक्षण का आदर्श बना। अमेरिका के उत्तरी भाग के पूंजीपतियों ने परोक्ष रूप से इनकी स्थापना की, उनके बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स में भी रहे और बाद में भी इनकी मदद की । अमेरिका में 1906 में, टेनेसी कोल एण्ड आयरन कंपनी ने औद्योगिक इकाईयों का निर्माण अलबामा प्रान्त में करना शुरू किया। और इसके साथ ही अस्पताल, गृह निर्माण कल्याण केन्द्र और विद्यालय बनाये गये । लेकिन हमें जानना चाहिये इनका उद्देश्य जन कल्याण न होकर मजदूरों की आपूर्ति को नियमित करने का था । हमारे देश में भी, टाटा ने जमशेदपुर में टाटा स्टील प्लांट, लगाने के साथ यह सब किया । असल में औद्योगिक घराने अस्पताल, स्कूल और अन्य सुविधाओं के लिए राज्य और केन्द्र सरकारों से भारी मात्रा में अनुदान प्राप्त करते हैं या फिर उन्हें टेक्सों में भारी छूट दी जाती है । यदि ध्यान से देखें तो इन कार्यों का लाभ कंपनी के स्टाक होल्डर्स को काफी पहुंचता हैं । जमशेदपुर में यदि हम टाटा द्वारा प्रचलित शैक्षिक व्यवस्थाओं का अध्ययन करेंगे तो यह साफ तौर पर जाहिर हो जायेगा कि कंपनी की शैक्षिक नीतियों ने मूल आदिवासियों के लिए उच्चतर शिक्षा के प्रसार के लिये यदि कुछ किया तो सिर्फ इतना किया कि आदिवासियों को विद्यालय की ऊंची शिक्षा सीमित रूप में तभी दी गयी, जब उसका संबंध किसी प्रकार की नौकरी की संभावित उपलब्धि से जोड़ा जा सके । अन्यथा आदिवासियों के लिए प्राथमिक और मिडिल स्तर तक के लिए स्कूल खोले गये वो भी काफी सीमित संख्या में स्कूल शहर के अलग भागों में होते और इनमें अधिकतर आदिवासी अध्यापकों की नियुक्ति होती, और इस प्रकार शैक्षिक अलगाव का पुनः उत्पादन होता। अपने विश्लेषण, के आधार पर इस बात की संभावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस प्रकार का शैक्षिक विभेदीकरण, जातिय और नस्ली भेदभाव को न बढ़ाये ।

दस्तावेज के पृष्ठ 110 पर जो लिखा है उसका साफ मतलब होगा कि, पिछड़े क्षेत्रों की संस्थायें विकसित क्षेत्रों की संस्थाओं की अपेक्षा कम संसाधन जुटा पायेंगी । और इस प्रकार हमेशा ही पिछड़ेपन के दुष्चक्र में फंसी रहेगी ।

उपरोक्त तथ्यों तथा विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते हैं कि सैकेण्डरी स्तर पर व्यवसायिक और अकादमिक धाराओं में शिक्षा को बांटने से -

1. क्षेत्रीय और वर्गीय (जातिगत) असमानताएं बढ़ेंगी । क्योंकि इस प्रकार के विभेदीकरण और समान्तरीकरण के कारण, शिक्षा प्रणाली स्वयं में विषमता का पुर्नउत्पादन करती है ।

2. संख्यात्मक विस्तार की गति पर भी कोई धनात्मक प्रभाव नहीं पड़ेगा ।

3. शिक्षा की गुणवत्ता (पूरी प्रणाली के संदर्भ में) भी बढ़ने की संभावनायें क्षीण हैं, क्योंकि पूरी प्रणाली की गुणवत्ता तभी बढ़ सकती है जब हम सभी बच्चों को समान शिक्षा दे पायेंगे ।

इन तीनों के चलते हमारे वर्तमान पिरामिडनुमा ढांचे को मजबूती ही प्रदान होती है, न कि, दस्तावेज की नीतियां उसे कमजोर करती है । साथ ही हमें यह भी समझ आ जाना चाहिये कि कमजोरी कार्यान्वयन के स्तर पर नहीं मूल नीतियों के स्तर पर ही है, वे ही भेद भाव के आधार पर गढ़ी गई हैं । ◆